हिंदी बाल साहित्य का स्वातंत्र्योत्तर स्वरूप: बहस और विमर्श

दिविक रमेश

संपर्क- 9910177099

अपनी पुस्तक 'बालगीत साहित्य' में निरंकार देव सेवक ने लिखा है-"स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद बढ़ती हुई रुचि और पढ़ने की भूख का अनुमान करके एक साथ सैंकड़ों नए लेखकों ने सभी विधाओं में लिख-लिखकर बाल साहित्य का भण्डार भरना प्रारंभ कर दिया। विराज एम. ए., गोकुल चन्द सन्त, नृसिंह शुक्ल, प्रशान्त, व्यथित हृदय, नरायन व्यास, विशम्भर सहाय प्रेमी, शारदा मिश्र, शिवमूर्ति वत्स, हरिकृष्ण देवसरे, मनहर चौहान ने अनेक पौराणिक, ऐतिहासिक और परी कथाएं बच्चों के लिए लिखीं। वैज्ञानिक बाल कथाएं रमेश वर्मा, रत्न प्रकाश शील, जयप्रकाश भारती आदि की बहुत पसन्द की गईं।" इस आकलन से बाल साहित्य के परिदृश्य से जुड़ा कोई भी चौंक सकता है, क्योंकि देवसरे को परी कथा आदि के विरोधी के रूप में जाना जाता है और इसके लिए उनके अपने अनेक आवेशपूर्ण वक्तव्य और घोषणाएं भी जिम्मेदार हैं जबकि जयप्रकाश भारती को मात्र पौराणिक, ऐतिहासिक और परी कथाओं वाली राह का लेखक मान कर प्रस्तुत किया जाता रहा है। इधर-उधर टटोला तो पाया कि परी कथाओं को लेकर देवसरे जी के मत को शायद ठीक से नहीं समझा गया है। वे झूठे कल्पनालोक से बचने की बात तो करते हैं लेकिन समूची परीकथा का विरोध नहीं करते। उन्हीं के शब्दों में-"परी कथाएं सदियों से बच्चों का मन बहलाती रही हैं। नव-बालसाहित्य की रचना के सिलसिले में एक आवश्यकता यह भी अनुभव की गई कि बच्चों को झूठे कल्पना लोक से बचाने के लिए जरूरी हे कि परी कथाओं के कथ्य को नये आयाम दिए जाएं।" वे आगे लिखते हैं-"परी कथाओं के खज़ाने को अपने शब्दों में बार-बार लिखकर बालसाहित्य-सर्जना का दम भरने वाले लेखकों के लिए यह भी एक चुनौती थी। उन्होंने इसे समूची 'परीकथा' का विरोध माना, जबकि वास्तव में परीकथा की विधा को स्वीकार करते हुए उसके कथ्य की मांग की गई थी।" (नव बालसाहित्य के दिशादर्शक, संचेतना, दिसम्बर, 1982, पृ0 215)। कुछ ऐसी ही बात उन्होंने इसी लेख में 'राजा' को कथा का पात्र बनाने के संदर्भ में लिखी है। उन्हें समझने का विशिष्ट दावा करने वालों को गौर करना होगा कि परी, राजा, भूत, पौराणिक पात्र, पशु-पौधों आदि के प्रयोग से उन्हें दिक्कत नहीं थी बशर्ते कि रचनाकार उनसे जुड़ी कथ्यगत रूढ़ियों को तोड़ने में समर्थ हो। जयप्रकाश भारती जी को भी उनके विरोधियों ने बिना उनको ठीक से समझे, गलत-सलत छवि प्रस्तुत करने में भरपूर योगदान किया है। जयप्रकाश भारती की ही निम्नलिखित कविता-पंक्तियों पर ध्यान दिया जाए –

"राजा का तो पेट बड़ा था
रानी का भी पेट घड़ा था।
खूब वे खाते छक-छक-छक कर
फिर सो जाते थक-थक-थककर।
काम यही था बक-बक, बक-बक
नौकर से बस झक-झक, झक-झक"

क्या यह कविता पारंपरिक ढंग की राजा-रानी पर लिखी कविता है? क्या यहां वही सामंतीय मूल्यों वाला राजा है जिसके सामने ज़बान खोलना भी अपने को सूली पर चढ़ाने का न्योता देना है? यह प्रजातंत्र के मूल्यों को स्थापित करती हुई एक ऐसी कविता है जिसे पढ़कर ताली बजा-बजा कर मजा लिया जा सकता है। कल्पना पहले के साहित्य में भी होती थी और आज के साहित्य में भी उसके बिना काम नहीं चल सकता। अंतर यह है कि आज के बालक को कल्पना विश्वसनीयता की बुनियाद पर खड़ी चाहिए। अर्थात् वह 'ऐसा भी हो सकता' है ' अथवा' 'ऐसा भी हुआ होगा' के दायरे में होनी चाहिए अन्यथा वह रद्दी की टोकरी में फेंक देगा। दूसरे शब्दों में आज का बाल साहित्यकार ऐसी रचनाएं नहीं देना चाहता जो अन्धविश्वास, सामंतीय परंपराओं, जादू -टोनों,अनहोनियों अथवा निष्क्रियता आदि मूल्यों की पोषक हों। आज की कहानियों में भी भूत, राजा, परी आदि हो सकते हैं लेकिन वे अपने पारंपरिक रूप से हटकर, ऊपर संकेतित पुरानेपन से अलग तरह के होते हैं। आज की कहानी की परी 'ज्ञान परी' हो सकती है, संगीत परी हो सकती है। भूत औरों को बेवकूफ बना रहा शैतान या दुष्ट बच्चा हो सकता है जिसकी पोल अंतत: खुलनी ही होती है। चांद के अनुभव पर एक कविता है- बालस्वरूप राही की। यह कविता चांद पर नहीं है बल्कि नई दृष्टि पर है। एक वैज्ञानिक समझ किस प्रकार रचना में पूरी तरह रचा-बसा कर पेश की जा सकती है कि वह एक कलात्मक अनुभव के आनंद से लहलहा उठे, इसका नमूना है यह कविता। हमारे यहाँ विज्ञान और आधुनिकता का मात्र अलाप करते रहने वाले इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। कविता इस प्रकार है:

चंदा मामा, कहो तुम्हारी शान पुरानी कहाँ गई,
कात रही थी बैठी चरखा, बुढ़िया नानी कहाँ गई?
सूरज से रोशनी चुराकर चाहे जितनी भी लाओ,
हमें तुम्हारी चाल पता है, अब मत हमको बहकाओ।
है उधार की चमक-दमक यह नकली शान निराली है
समझ गए हम चंदा मामा, रूप तुम्हारा जाली है।

बाल-विज्ञान लेखन और राजा-रानी, परी कथाओं, लोककथाओं पुराणों या इतिहास पर आधारित रचनाओं के संदर्भ में जो विवादयुक्त टिप्पणियां होती हैं उनके पीछे न तो रचनाओं के आधार पर सुचिन्तित मंथन दिखता है और न ही खुला विचार। देवेंद्र मेवाड़ी के शब्दों में- "विज्ञान लेखन करते समय बच्चों को मन के आँगन में बुलाना होगा और जैसे उनसे बातें करते –करते या उन्हें किस्से- कहानियाँ या गीतों की लय में विज्ञान की बातें बतानी होंगी।... विज्ञान की कोई जानकारी कथा -कहानी के रूप में दी जाएगी तो उसे बच्चे मन लगा कर पढ़ेंगे । ध्यान दिया जाए कि यहां जानकारी देने पर अधिक जोर है। कविता, कहानी आदि फॉर्म भर हैं। मेरी दृष्टि में बालसाहित्य से तात्पर्य ऐसे साहित्य से है जो बालोपयोगी साहित्य से भिन्न रचनात्मक साहित्य होता है अर्थात् जो विषय निर्धारित करके शिक्षार्थ लिखा हुआ न होकर बालकों के बीच का अनुभव आधारित रचा गया बाल साहित्य होता है । वह कविता, कहानी नाटक आदि होता है न कि कविता, कहानी, नाटक आदि के चौखटे अथवा शिल्प मे भरी हुई विषय प्रधान जानकारी, शिक्षाप्रद अथवा उपदेशपूर्ण सामग्री होती है। वह विषय नहीं बल्कि विषय के अनुभव की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। दूसरे शब्दों में कलात्मक अनुभव होता है। इसीलिए वह मौलिक भी होता है। मोबाइल भी कहानी का विषय बन सकता है लेकिन तब जब वह रचनाकार के किसी अनुभव विशेष का अंग बन जाए। कोरी जानकारी उपयोगी हो सकती है लेकिन रचना बनने के लिए उसे 'रचनात्मक शर्तों' से गुजरना होता है और 'रचनात्मक शर्तों' का आशय केवल कविता या कहानी के फॉर्म का उपयोग करना नहीं होता। कोई जब कहता है कि 'कम्प्यूटर जी लॉक कर दीजिए तो वह कहने या अभिव्यक्ति की खूबसूरती है अन्यथा लॉक तो आदमी ही करता है। यहां मुझे रचनाकार कल्पना कुलश्रेष्ठ का महत्त्वपूर्ण चिंतन भी ध्यान में आ रहा है। उन्होंने अपने अंग्रेजी में लिखे एक लेख 'राइटिंग साइंस फिक्शन फॉर चिल्ड्रन' में जोर देकर विज्ञान कथा और विज्ञान लेख का भेद किया है। उन्होंने माना है कि विज्ञान कथा लेखन बच्चों को विज्ञान सिखाने के लिए नहीं होता, उसके लिए विज्ञान लेख होते हैं। विज्ञान कथा लेखन बच्चों में वैज्ञानिक स्वभाव बनाने के लिए होता है। उनके शब्दों में –" It should kept in mind that it is not the job of science fiction to teach science for the kids. There are science articles for that purpose. Rather, science fiction is actually there to help develop scientific temperament and a genuine interest for science among children. Writers should not let the scientific theme be tyoo complicated and hard to understand for a child." (Writing Science Fiction For Children, Journal of Scientific Temper, Vol.7 (3&4), Jul-Dec, 2019). उल्लेखनीय यह भी है कि कुछ लोग विज्ञान कथा के नाम पर विज्ञान फंतासी अथवा बेलगाम कल्पना लिख दिया करते हैं। कल्पना विश्वसनीयता की बुनियाद पर होनी चाहिए।

कुल मिलाकर कहा जाए तो हिंदी का बाल साहित्य लोरी, पालना गीतों, प्रभाती, दोहा, गज़ल, पहेली, कविता, कहानी, उपन्यास, संस्मरण, जीवनी, नाटक आदि अनेक रूपों और विधाओं से संपन्न है। आज का बाल साहित्य तो कितने ही सार्थक प्रयोगों से समृद्ध है। हिंदी के बाल साहित्य और उसमें भी कविता के क्षेत्र में उसकी महत्त्वपूर्ण उपस्थिति को रेखांकित करते हुए एक समय में (स्वातंत्र्योत्तर बाल साहित्य के संदर्भ में) प्रतिष्ठित बाल साहित्यकार और नंदन के संपादक स्व. जयप्रकाश भारती ने उस समय को बाल साहित्य का 'स्वर्णिम युग'कहा था जिसे बड़े पैमाने पर स्वीकार भी किया गया एक–आध उपेक्षा-योग्य मामूली कुंठित और पूर्वाग्रही प्रतिक्रिया के। तो भी सच यह भी है कि हिंदी के बाल साहित्य के सही मूल्यांकन और उसके सही रेखांकन का अभाव है। जानकारियां हैं, कुछ हद तक इतिहास और शोध-कार्य भी उपलब्ध होने लगे हैं, लेकिन अपने सही अर्थों में समीक्षात्मक एवं आलोचनात्मक साहित्य की दृष्टि से वह फिलहाल अपने बचपने में ही है। फिलहाल, किसी सुदृढ़-सुचिन्तित सौन्दर्यशास्त्र और सम्यक या संतुलित दृष्टि के अभाव में आज की तथाकथित उपलब्ध आलोचना प्राय: आलोचक की पसन्द या नापसन्द पर अधिक टिकी होती है। इस क्षेत्र में फिलहाल प्रकाश मनु और डॉ. शकुंतला कालरा का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हिंदी के बालसाहित्य के प्रारम्भ को लेकर थोड़ा विवाद है। बालसाहित्य की परंपरा को खोजते और सामने लाते हुए हिंदी के सुप्रतिष्ठित बाल साहित्यकार और चिंतक निरंकार देव सेवक, स्नेह अग्रवाल और जयप्रकाश भारती के अतिरिक्त उमेश चौहान, डॉ, दिग्विजय कुमार सहाय आदि ने इस ओर कुछ विचार किया है। इन विचारों के अनुसार हिंदी का बालसाहित्य 14 वीं-15वीं शताब्दी के आस-पास से उपस्थित माना गया है। अर्थात् अमीर खुसरो, सूरदास, जगनिक द्वारा लिखित आल्हा खंड, राजस्थानी कवि जटमल (1623) की रचना 'गोरा बादल' आदि में बालसाहित्य की उपस्थिति मानी गई है। जहां तक बालक की पहली पुस्तक का प्रश्न है तो 'गोरा बादल' को माना गया है जिसे एक मुकम्मल बाल काव्य के रूप में स्वीकार किया गया। मिश्र बंधुओं ने पुस्तक में खड़ी बोली का प्राधान्य माना है। यदि इस विवाद में न जाएं तो हिंदी के बाल साहित्य का वास्तविक प्रारम्भ आधुनिक काल से अर्थात् बीसवीं सदी के थोड़े पीछे-आगे से तो मानना ही होगा। सच तो यह है कि भारत की प्रमुख भाषाओं मसलन असमी, बंगाली, मराठी, तमिल, कन्नड़, हिंदी, मलयालम, उड़िया आदि के आधुनिक बाल साहित्य के इतिहास पर नजर डालें तो हम पाएंगे कि (अपने वास्तविक अर्थों में) इसका प्रारंभ **19** वीं सदी के अंत और **20** वीं सदी के प्रारंभ में हुआ था। कुछ अन्य भाषाओं में यह बाद में शुरू हुआ था। उदाहरण के लिए एक उत्तर-पूर्व की भाषा मणिपुरी में मुद्रित रूप में बाल साहित्य की जरूरत **1940** के दशक से **1950** के दशक में महसूस होने लगी थी। **1947** के बाद बाल साहित्य की अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ। प्रमुख भाषाओं के मामले में, बाल साहित्य की शुरुआत के कारणों में से एक शिक्षा के लिए पाठ्य पुस्तकों की तैयारी की जरूरत भी थी। ईसाई

मिशनरी स्कूल स्थापित किए गए और उन के कारण नए प्रकार की शिक्षा प्रणाली ने नई शैली की कहानियां लिखने के लिए प्रेरित किया।

शास्त्रीय और पहले के बाल साहित्य के श्रेष्ठ हिस्से के प्रति बिना किसी पूर्वाग्रह के कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद के भारतीय बाल साहित्य में बच्चों के अनुकूल ऐसा साहित्य लिखा गया है जो पुराने साहित्य की तरह उपदेशात्मक नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि हमें बच्चों को शास्त्रीय (classical) बाल साहित्य की जानकारी से वंचित रखना चाहिए। बंगाली में, जोगिंद्रनाथ सरकार द्वारा 1891 में लिखित कहानियों की पुस्तक 'हाँसी और खेला' (हँसना और खेलना) ने पहली बार कक्ष-कक्षा-परंपरा को तोड़ा और यह बच्चों के लिए पूरी तरह मनोरंजनदायक बनी। संयोग से कुछ सीख भी लेना एक अतिरिक्त लाभ था।

बाल साहित्य के नाम पर एक अरसे तक 'बालक के लिए साहित्य' लिखा जाता रहा है (यूं आज भी ऐसा होते देखा जा सकता है) जबकि आज 'बालक का साहित्य' लिखा जा रहा है। पिछले वर्षों में यह समझ बहुत शिद्दत से आई है कि बालक के लिए नहीं बल्कि बालक का बाल-साहित्य लिखा जाना चाहिए। इसका अर्थ है कि बाल-साहित्यकार को बालक बन कर साहित्य रचना होता है। जब हम बालक के लिए लिखने का प्रयत्न करते हैं तो वह बालक पर प्राय: लादे जाने वाले बाल साहित्य का अभ्यास होता है। आज के तैयार बालक के लिए प्राय: उपदेशात्मक और उबाऊ होता है। आज का बाल-साहित्यकार सिखाने की पुरानी शैली के स्थान पर साथ-साथ सीखने की शैली में अपने को अभिव्यक्त करता है। वह अनुभव और ज्ञान के माध्यम से अर्जित अपनी समझ का बालकों को सहज भागीदार बनाता है। आज का बाल-साहित्यकार कमोबेश बालक का दोस्त बनकर उसके सुख-दुख का, उसकी उत्सुकताओं और कठिनाइयों का यानी उसके सब कुछ का साझीदार होता है। अंग्रेजी के बाल साहित्य समीक्षक निकोलस टकर का मत भी इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य है- "विश्व के नए बाल साहित्य के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह एक्दम साफ-सुथरा हो, उसकी कहानियां एकदम आदर्शपरक हों और उनका अंत सदा सुखदायी ही हो। यह तो वास्तव में अपने समय काल से जुड़ा प्रश्न है। यदि बाल साहित्य में पाठक यह समझ लेता है कि इसके पीछे एक सुदृढ़ आग्रह है कि जीवन की कठिनाइयों से जूझने और जीवन जीने का वही फार्मूला अपनाओ जो हम बता रहे हैं तो वह तत्काल उसे छोड़ देता है।" (भारतीय बाल साहित्य, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृ. 15)। वस्तुत: बाल साहित्य सृजन बहुत ही चुनौती का काम होता है। नामवर सिंह ने ठीक ही लिखा है ,"उनके लिए तो साहित्य वह है जो उन्हें हिलाये, डुलाये और दुलराये भी। यानी वे खुशी से झूम उठें।"

हमें यह भी समझना होगा (हालांकि समझा जा रहा है) कि विविधताओं से भरे भारत के संदर्भ में यह बालक बनना क्या है? यहां आर्थिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं आयु आदि कारणों से बालक का भी विविधता भरा स्वरूप है। महानगरी बालक का स्वरूप वही नहीं है जो कस्बाई या ग्रामीण या जंगलों में रहने वाले बच्चे का है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बच्चे की मानसिकता वही नहीं है जो गरीबी में पल रहे बच्चे की है। आज के कितने ही बच्चों के सामने इंटरनेट, फिल्म तथा अन्य मीडिया की सुविधा के चलते एक नई दुनिया और उसके नए भाषा-रूप का भी विस्फोट हो रहा है और वे उससे प्रभावित हो रहे हैं। अत: आज का बाल-साहित्यकार बालक के बारे में परंपरा भर से काम चलाते हुए अर्थात् उसके विकास की उपेक्षा करते हुए, सामान्य कुछ लिखकर अपने कार्य की इति नहीं कर सकता। सामान्य रूप और दृष्टि हो सकती है, अनुभव, उसका नया बोध और उससे जन्मी नई दृष्टि नहीं। यही कारण है कि पिछले कुछ वर्षों में हिंदी के बाल साहित्य में जहां भाव और भावबोध की दृष्टि से बालक के नए-नए रूप उभर कर आए हैं वहीं रूप तथा भाषा-शैली में भी नए-नए अन्दाज और प्रयोग सम्मिलित हुए हैं, भले ही कुछ पहले की सोच में गिरफ़्त जन उसे स्वीकार करने में कठिनाई झेल रहे हों। जब हम बालक की बात करते हैं तो हमें नहीं भूलना चाहिए कि हमारे देश में अमीरी-गरीबी, जाति-पांत, भौगोलिक तथा अन्य स्थितियों आदि के कारण बालक बंटा हुआ है। आज के कुछ साहित्यकारों का उस ओर ध्यान हैं , लेकिन कल लिखे जाने वाले साहित्य में और ध्यान दिया जाना अपेक्षित है। अपने -अपने अनुभव के दायरों के बच्चों के बालमन को समझते हुए रचना होगा। ग्रामीण परिवेश के बच्चों के साथ -साथ आदिवासी बच्चों तक ठीक से पहुंचना होगा। अभी यह चुनौती है। नए ढंग से, विशेष वर्ग के बालक के मन की एक कविता 'छाता' है जो चकमक में प्रकाशित हुई थी-

सड़क!
हो जाओ न थोड़ी ऊंची
बस मेरे नन्हें कद से थोड़ी ऊंची।

मैं आराम से निकल जाऊंगा तब
तुम्हारे नीचे-नीचे
घर से स्कूल तक।
न मुझे धूप लगेगी, न बारिश।
हमारे घर में
नहीं है न छाता, सड़क!

एक और कविता देखिए –

गुल्लू का कम्प्यूटर (डॉ. प्रदीप शुक्ल)

गुल्लू का कम्प्यूटर आया
पूरा गाँव देख मुस्काया

दादी के चेहरे पर लाली
ले आई पूजा की थाली

गुल्लू सबको बता रहा है
लाईट कनेक्शन सता रहा है

माउस उठा कर छुटकू भागा
अभी-अभी था नींद से जागा

अंकल ने सब तार लगाये
गुल्लू को कुछ समझ न आये

कंप्यूटर तो हो गया चालू
न ! स्क्रीन छुओ मत शालू

जिसे खोजना हो अब तुमको
गूगल में डालो तुम उसको

कक्का कहें चबाकर लईय्या
मेरी भैंस खोज दो भैय्या

बड़े जोर का लगा ठहाका
खिसियाये से बैठे काका !!

आज ऐसी कहानियां उपलब्ध होने लगी हैं जो आज की विद्रूपताओं को उजागर कर रही हैं, मसलन लड़कियों के नाजायज़ स्पर्शों की अनुभव सम्पन्न समझ दे रही हैं। गुस्ताखी माफ हो, स्वयं मेरी ही कहानी है–'सॉरी लू लू' जो आलेख प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित मेरी पुस्तक 'बचपन की शरारत' (सम्पूर्ण बाल गद्य रचनाएं) में संकलित है। आने वाले साहित्यकारों को ऐसी और अन्य बुराइयों से जूझ रहे बच्चों की दुनिया में भी झांक कर लिखना होगा। क्षमा शर्मा ने उचित ही लिखा है कि "बहुत से लोग

समझते हैं कि फैंटेसी लिखना बहुत आसान है और उसमें कोई तर्क नहीं होता जबकि फैंटेसी लिखना, ऐसी कथा कहना है जिसमें बच्चों का कुतूहल और जिज्ञासा जग सके एक कठिन काम है, इसीलिए अक्सर लोग कहानी लिखने का एक आसान सा रास्ता अपनाते हैं। सरकार के जो नारे चल रहे होते हैं वे उन पर कहानियां, कविताएं लिखते हैं। ऐसी कहानियां हमें हजारों की संख्या में मिलती हैं, जो बेहद अपठनीय होती हैं। इन दिनों पर्यावरण और 'जेंडर सेंसिटाइजेशन' पर लिखने वालों की भरमार है। ये कहानियां इतनी उबाऊ होती हैं कि इनके शुरुआती वाक्य पढ़ने के बाद सहज ही समझ में आ जाता है कि आगे क्या होगा। जानवर, पेड़ आदि मनुष्य के सहजीवी हैं। रचनाकार अपने दृष्टि संपन्न अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए इनका कलात्मक उपयोग यदि विश्वसनीयता के दायरे में रहकर करता है तो वह अभिव्यक्ति की क्षमता बन जाता है। मैं बाल कहानियों में से जानवरों को बाहर करने का कतई पक्षधर नहीं रहा हूं। वह संभव भी नहीं है। हां, नए ट्रीटमेंट की जरूरत रहती है। जानवर पात्र होगा तो मनुष्य-पाठक को उसके मन की बात प्रेषित करने के लिए मानव-भाषा का ही उपयोग करना पड़ेगा। यही पेड़, फूल आदि के संदर्भ में भी सत्य हे। और इसे एक कुशल रचनाकार बिना मानवीकरण के भी सफलता के साथ सामने ला सकता है।

मोहन राकेश की एक कहानी 'सुनहरा मुर्गा, काला बंदर, लाल अमरूद का पेड़' है। यह कहानी रोचक है और इसमें जो संदेश निकल रहा है वह कहानी की बुनावट का हिस्सा बन कर आया है और कहीं से भी चस्पां या आरोपित होकर नहीं। भले ही पात्र आदमियों के साथ-साथ जानवर और पेड़ हैं, लेकिन जानवर और पेड़ आदमियों की दुनिया में इस प्रकार खपाए गए हैं कि वे न तो अलग-थलग लगते हैं और न ही उन पर मानवीकरण हावी हुआ है। आदमियों की अपनी दुनिया है और उनकी अपनी। उन्हें आदमियों से संवाद करते हुए भी नहीं दिखाया गया है। विश्वसनीयता का भी पूरा ध्यान रखा गया है। और वह भी कलात्मकता की कीमत पर नहीं। प्रारम्भ में कोई भी स्वीकार करेगा कि कसाई की निगाह मुर्गे पर है, बंदर पर चिड़ियाघर वालों की और अमरूद के पेड़ पर विद्यार्थियों और लोगों की। कोई 'समझदार' आपत्ति कर सकता है कि ये तीनों जिस तरह एक दूसरे की रक्षा करते हैं वह कैसे संभव है? बंदर को किसी ने अपनी पीठ पर मुर्गे को बैठाकर पेड़ पर ले जाते तो नहीं देखा। या पेड़ ने अपने आप अमरूद कैसे टपकाए। तो यही तो कलात्मकता है। जब बच्चे ऐसे वर्णन पढ़ते हैं तो कहानी का कलात्मक अनुभव सहज ही दोस्तों में एक दूसरे की मदद करने के भाव को सर्वोपरि कर देता है। और यूं भी मुर्गा खुद उड़ कर पेड़ पर नहीं जा सकता और पेड़ से फल पककर टपक भी सकता है। यह तो विश्वसनीयता के दायरे में आता ही है न? एक और वर्ण है जो पेड़ का मानवीकरण जैसा लगता है- बंदर को पेड़ अपनी घनी शाखाओं में छिपा लेता है। यहां बिना पेड़ के मानवीकरण के आशय तो स्पष्ट हैं न? इस रोचक कलात्मक अभिव्यक्ति के स्थान पर यह भी लिखा जा सकता था कि बंदर पेड़ की घनी शाखाओं में छिप गया। कहानी का अगला पड़ाव है विपत्ति का आना- वर्षा और ओले के रूप में। ऐसे में 'बिगाड़ में दूसरों पर दोष मढ़ा जाता है' वाली कहावत सामने आती है।

एक-दूसरे पर आरोप लगाने का सिलसिला शुरु होता है और अविश्वास का जन्म होता है। दोस्ती भंग हो जाती है। और कहानी के अंतिम पड़ाव में स्वाभाविक ढंग से चित्रित किया गया है कि दोस्ती के भंग होने पर, एक -दूसरे की मदद न करने की स्थिति में, कसाई, चिड़ियाघर वाले और उनके संदर्भ में अपने बुरे इरादों में सफल हो जाते हैं। कहानी खत्म हो जाती है। तो मेरी निगाह में यह कहानी है न कि कहानी के फॉर्म में कोई संदेश या सूचना ठूंसने का प्रयास। कहानी के मज़े के साथ-साथ संदेश खुद-ब-खुद उभर कर आता है। वर्णन में कल्पना है लेकिन विश्वसनीयता की बुनियाद पर। यहां शिल्प उजागर नहीं है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या व्यापक संदर्भ में बच्चे को एक ऐसा पात्र मान लिया जाए जिसमें बड़ों को अपनी समझ बस ठूंसनी होती है। मैं समझता हूं कि आज जरूरत बच्चे को ही शिक्षित करने की नहीं है, बड़ों को भी शिक्षित करने की है। इसलिए बाल साहित्यकार के समक्ष यह भी एक बड़ी और दोहरी चुनौती है। वस्तुत: सजग लोगों के सामने मूल चिन्ता यह भी रही है कि कैसे रूढ़ियों में जकड़े मां-बाप और बुजुर्गों की मानसिकता से आज के बच्चे को मुक्त करके समयानुकूल बनाया जाए। साथ ही यह भी कि आज के बच्चे की जो मानसिकता बन रही है उसके सार्थक अंश को कैसे प्रेरित किया जाए और कैसे दकियानूसी सोच के दमन से उसे बचाया जाए। मैंने अक्सर कहा है कि बाल-साहित्य सबके लिए होता है- केवल बच्चों के लिए नहीं। बाल-साहित्य बड़ों को भी सुसंस्कृत कर सकता है। बाल साहित्य बच्चों का तो सच्चा दोस्त होता ही है, बड़ों को भी उनका सच्चा दोस्त बनने की राह दिखाता है ।

थोड़ी बात इलेक्ट्रॉनिक माध्यम और टेक्नोलॉजी के हौवे की भी कर ली जाए जिन्होंने विश्व को एक गांव बना दिया है। यह बात अलग हैं कि भारत में आज भी अनेक बच्चे इनसे वंचित हैं। इनसे क्या वे तो प्राथमिक शिक्षा तक से वंचित हैं। कितने ही तो अपने बचपन की कीमत पर श्रमिक तक हैं। अपने परिवेश और परिस्थितियों के कारण अनेक बुरी आदतों से ग्रसित हैं। वे भी आज के बाल साहित्यकार के लिए चुनौती होनी चाहिए ? खैर जिन बच्चों की दुनिया में नई टेक्नोलॉजी की पहुंच है उनकी सोच अवश्य बदली है। अच्छे रूप में भी और गलत रूप में भी। विषयांतर कर कहना चाहूं कि मैं टेक्नोलॉजी या किसी भी माध्यम का विरोधी नहीं हूं, बल्कि वे मानव के लिए जरूरी हैं। उनका जितना भी गलत प्रभाव है उसके लिए वे दोषी नहीं हें बल्कि अन्तत: मनुष्य ही है जो अपनी बाजारवादी मानसिकता की तुष्टि के लिए उन्हें गलत परोसने की भी वस्तु बनाता है। फिर चाहे वह यहां का हो, पश्चिम का हो या फिर कहीं का भी हो। होने को तो पुस्तक के माध्यम से भी बहुत कुछ गलत परोसा जा सकता है। तो क्या माध्यम के रूप में पुस्तक को गाली दी जाए। आज बहुत सा बाल साहित्य इंटरनेट के माधयम से भी उपलब्ध है। अत: जरूरत इस बात कि है कि दोनों के बीच बहुत ही सार्थक रिश्ता बनाया जाए। किताबें भी कम्प्यूटर पर पढ़ी जा सकती हैं, इसके लिए तमाम वेबसाइट हैं।

अंत में कहना चाहूंगा कि भले ही आज सृजन बल्कि उत्कृष्ट सृजन की दृष्टि से समकालीन हिंदी बाल साहित्य की स्थिति बहुत अच्छी और संतोषजनक हो चुकी है। ठीक है कि आज भी पारंपरिक सोच और पारंपरिक ढंग का बाल साहित्य लिखा और छापा जा रहा है, लेकिन ऐसे बाल साहित्य की भी कमी नहीं है जिसमें समसामयिक घटनाओं, परिवेश और भविष्य की दुनिया मौजूद है। जिसमें आज के बच्चे की नब्ज़ और धड़कन है। स्कूली शिक्षा-पद्धति और बस्ते के बोझ की विडंबना को लेकर सुरेंद्र विक्रम की एक बहुत अच्छी-मार्मिक कविता है। आज नई पीढ़ी में भी समर्पित और सशक्त रचनाकारों की अच्छी-खासी संख्या है जिनके नामों की गणना करना फिलहाल छोड़ रहा हूं, लेकिन, मेरे विनम्र मत में, इसके समक्ष आज वास्तविक चुनौती इसकी सही जगह और आकलन को लेकर बनी हुई है, बावजूद कुछ बेहतर हो चुकी स्थितियों के। वस्तुत: आज भी लगता है कि हिंदी में लिखा जा रहा बाल-साहित्य जो ऊंचाई छू चुका है, न तो उसकी ठीक से पहचान ही हो पा रही है और न ही उसे कायदे से उसकी उपयुक्त जगह ही मिल पा रही है। इसका प्रमुख कारण, मेरी निगाह में, इसे बड़ों के लिए लिखे जा रहे सृजन के समक्ष न समझा जाना ही है। कोई भी सृजन, अगर वह सृजन है तो किसी भी सृजन के समक्ष माना जाना चाहिए और उसे साहित्य के इतिहास में ससम्मान स्थान दिया जाना चाहिए।

(**परिचय :** चर्चित बाल-साहित्यकार के रूप में दिविक रमेश की विशिष्ट पहचान है। दिविक रमेश वर्तमान में नई दिल्ली में रहते हैं।)